ISSN 2277 - 7865

मूल्य ५०.०० रुपये

वर्ष : ३६

अंक : ०४

तित्थयर

जुलाई २०१२

॥ जैन भवन ॥

शुभ कामनाओं सहित —

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय,
कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

Suvigya & Saurabh Boyed

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ३६ अंक - ०४ जुलाई २०१२

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिय
पता - Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007
Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,
Email : jainbhawan@bsnl.in, jainbhawan@rediffmail.com

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --
Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007
Life Membership : India : Rs. 5000.00. Yearly : 500.00
Foreign : $ 500

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655 and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street Kolkata - 700 007
Phone : 2241-1006

संपादन
डॉ. लता बोथरा

॥ जैन भवन ॥

अनुक्रमणिका

क्र. सं. लेख	लेखक	पृ. सं.
१. क्या पउमचरियं श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ है?	डॉ. सागरमल जैन	११३
२. अपभ्रंश का भाषिकी स्वरूप सन्दर्भ के विविध आयाम	डॉ. अभिजीत भट्टाचार्य	१२३
३. कुवलय माला		१३८

ISSN 2277 - 7865

कवरपृष्ठ : एलोरा की गुफा में उत्कीर्ण देवी अम्बिका की मूर्ति।

Composed by:
Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

क्या पउमचरियं श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ है?

प्रो. सागरमल जैन

आएँ अब इसी प्रश्न पर श्वेताम्बर विद्वानों के मंतव्य पर भी विचार करें और देखें कि क्या वह श्वेताम्बर परंम्परा का ग्रन्थ हो सकता है?

पउमचरियं के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं :–

(1) विमलसूरि ने लिखा है कि **जिन** के मुख से निर्गत अर्थरूप वचनों को गणधरों ने धारण करके उन्हें ग्रन्थरूप दिया। इस तथ्य को मुनि कल्याणविजयजी ने श्वेताम्बर परम्परा सम्मत बताया है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा की निर्युक्ति में इसका उल्लेख मिलता है।[26]

(2) पउमचरियं (2/26) में महावीर के द्वारा अँगूठे से मेरूपर्वत को कम्पित करने की घटना का भी उल्लेख हुआ है, यह अवधारणा भी श्वेताम्बर परम्परा में बहुत प्रचलित है।

(3) पउमचरियं (2/36-37) में यह भी उल्लेख है कि महावीर केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए विपुलाचल पर्वत पर आये, जबकि दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने 66 दिनों तक मौन रखकर विपुलाचल पर्वत पर अपना प्रथम उपदेश दिया। डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. उपाध्ये ने भी इस कथन को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में माना है।[27]

---

26. जिणवरमुहाओ अत्थो सो गणहेरहि धरिउं। आवश्यक निर्युक्ति 1/10
27. देखे—पद्मपुराण (आचार्य रविषेण), प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सम्पादकीय, पृ. 7

(4) पउमचरियं (2/33) में महावीर का एक अतिशय यह माना गया है कि वे देवों के द्वारा निर्मित कमलों पर पैर रखते हुए यात्रा करते थे। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में प्रमाण माना है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यापनीय आचार्य हरिषेण एवं स्वयम्भू आदि ने भी इस अतिशय का उल्लेख किया है।

(5) पउमचरियं (2/82) में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के बन्ध के बीस कारण माने हैं। यह मान्यता आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञाताधर्मकथा के समान ही है। दिगम्बर एवं यापनीय दोनों ही परम्पराओं में इसके 16 ही कारण माने जाते रहे हैं। अतः इस उल्लेख को श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में एक साक्ष्य कहा जा सकता है।

(6) पउमचरियं में मरूदेवी और पद्मावती– इन तीर्थकर माताओं के द्वारा, 14 स्वप्न देखने का उल्लेख है।[28] यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा 16 स्वप्न मानती है। इसीप्रकार इसे भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के सम्बन्ध में प्रबल साक्ष्य माना जा सकता है। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने यहाँ स्वप्नों की संख्या 15 बतायी है।[29] भवन और विमान को उन्होंने दो अलग-अलग स्वप्न माना है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जो तीर्थंकर नरक से आते हैं, उनकी माताएँ भवन और जो तीर्थंकर देवलोक से आते हैं उनकी माताएँ विमान देखती हैं। यह एक वैकल्पिक व्यवस्था है अतः संख्या चौदह ही होगी। अतः भवन और विमान वैकल्पिक स्वप्न माने गये हैं, इस प्रकार माता द्वारा देखे जाने वाले स्वप्न की संख्या तो 14 ही रहती

28. पउमचरियं, 3/62, 21/13
(यहाँ मरूदेवी और पद्मावती के स्वप्नों में समानता है, मात्र मरूदेवी के सन्दर्भ में **वरसिरिदाम** शब्द आया है, जबकि पद्मावती के स्वप्नों में **अभिसेकदास** शब्द आया है– किन्तु दोनों का अर्थ लक्ष्मी ही है।)

29. जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ 99

है (आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति पृ. 108)। स्मरण रहे कि यापनीय रविषेण ने पउमचरियं के ध्वज के स्थान पर मीन-युगल को माना है। ज्ञातव्य है कि प्राकृत **झय** के संस्कृत तथा झष (मीन-युगल) दोनों सम्भव हैं। साथ ही सागर के बाद उन्होंने सिंहासन का उल्लेख किया है और विमान तथा भवन को अलग-अलग स्वप्न माना है यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्वप्न सम्बन्धी पउमचरियं की यह गाथा श्वेताम्बर मान्य **नायधम्मकहा** से बिल्कुल समान है।[30] अतः यह अवधारणा भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्ध होने के सम्बन्ध में प्रबल साक्ष्य है।

(7) पउमचरियं में भरत और सागर चक्रवर्ती की 64 हजार रानियों का उल्लेख मिलता है[31] जबकि दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्तियों की रानियों की संख्या 96 हजार बतायी है।[32] अतः यह साक्ष्य भी दिगम्बर और यापनीय परम्परा के विरुद्ध है और मात्र श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में जाता है।

(8) अजित और मुनिसुव्रत के वैराग्य के कारणों को तथा उनके संघस्थ साधुओं की संख्या को लेकर पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति ये मत वैभिन्य है।[33] किन्तु ऐसा मतवैभिन्य एक ही परम्परा में भी देखा जाता है अतः इसे ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने का सबल साक्ष्य नहीं कहा जा सकता है।

(9) पउमचरियं और तिलोयपण्णत्ति में बलदेवों के नाम एवं क्रम को लेकर मतभेद देखा जाता है, जबकि पउमचरियं में दिये गये नाम एवं क्रम श्वेताम्बर परम्परा में यथावत् मिलते हैं।[34] अतः इसे भी ग्रन्थ

---

30. णायधम्मकहा (मधुकर मुनि) प्रथम श्रुतस्कधं, अध्याय 8, 26
31. पउमचरियं 4/58, 5/98
32. पद्मपुराण (रविषेण), 4/66, 247
33. देखें पुउमचरियं 21/22, पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन पेज 22 फुटनोट-3 तुलनीय—तिलोयपण्णत्ति, 4/608
34. पउमचरियं, इण्ट्रोडक्सन पेज 21

के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में एक साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि यह स्मरण रखना होगा कि पउमचरियं में भी राम को बलदेव भी कहा गया है।

(10) पउमचरियं में 12 देवलोकों का उल्लेख है जो कि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार है।[35] जबकि यापनीय रविषेण और दिगम्बर परम्परा के अन्य आचार्य देवलोकों की संख्या 16 मानते है अतः इसे भी ग्रन्थ के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का प्रमाण माना जा सकता है।

(11) पउमचरियं में सम्यक्दर्शन को पारिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि जो नव पदार्थों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।[36] पउमचरियं में कही भी 7 तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है। पं. फूलचन्दजी के अनुसार यह साक्ष्य ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने के पक्ष में जाता है।[37] किन्तु मेरी दृष्टि में नव पदार्थों का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में भी पाया जाता है अतः इसे ग्रन्थ के श्वेताम्बर होने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य तो नहीं कहा जा सकता। दोनों ही परम्परा में प्राचीनकाल में नव पदार्थ ही माने जाते थे, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् दोनों में सात तत्त्वों की मान्यता भी प्रविष्ट हो गई। चूँकि श्वेताम्बर प्राचीन स्तर के आगमों का अनुसरण करते थे, अतः उनमें 9 तत्त्वों की मान्यता की प्रधानता बनी रही। जबकि दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के अनुसरण के कारण सात तत्त्वों की प्रधानता स्थापित हो गई।

(12) पउमचरियं में उसके श्वेताम्बर होने के सन्दर्भ में जो सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध है वह यह कि उसमें कैकयी को मोक्ष

---

35. पउमचरियं, 75/35-36 और 102/42-54
36. पउमचरियं, 102/181
37. अनेकान्त वर्ष 5, किरण 1-2 तत्त्वार्थ सूत्र का अन्तः परीक्षण, पं. फूलचन्दजी पृ. 51

की प्राप्ति बताई गई है,[38] इस प्रकार पउमचरियं स्त्री मुक्ति का समर्थक माना जा सकता है। यह तथ्य दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यापनीय भी स्त्रीमुक्ति तो स्वीकार करते थे अतः यह दृष्टि से यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं से सम्बद्ध या उनका पूर्वज माना जा सकता है।

(13) इसी प्रकार पउमचरियं में मुनि के आशीर्वाद के रूप में धर्मलाभ कहते हुए दिखाया गया है,[39] जबकि दिगम्बर परम्परा में मुनि आशीर्वचन के रूप में धर्मवृद्धि कहता हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि धर्मलाभ कहने की परम्परा न केवल श्वेताम्बर में है, अपितु यापनीय में भी है। यापनीय मुनि भी श्वेताम्बर मुनियों के समान धर्मलाभ ही कहते थे।[40]

ग्रन्थ के श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के इन अन्तःसाक्ष्यों के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य मुख्य रूप से उसके श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने के पक्ष में अधिक हैं। विशेष रूप से स्त्री-मुक्ति का उल्लेख यह सिद्ध कर देता है कि यह ग्रन्थ स्त्री-मुक्ति निषेधक दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध नहीं हो सकता है।

(14) विमलसूरि ने पउमचरियं के अन्त में अपने को नाइल (नागेन्द्र) वंशनन्दीकर आचार्य राहू का प्रशिष्य और आचार्य विजय का शिष्य बनाया है।[41] साथ ही पउमचरियं का रचनाकाल वी. नि. सं. 530 कहा है।[42] ये दोनों तथ्य भी विमलसूरि एवं उनके ग्रन्थ के सम्प्रदाय

38. सिद्धिपयं उत्तमं पत्ता—पउमचरियं 68/12
39. देखें, पउमचरियं इण्ट्रोडक्सन पेज 21
40. गोप्या यापनीया। गोप्यास्त वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति।—षट्दर्शनसमुच्चय टीका 4/1
41. पउमचरियं, 118/117
42. वही, 118/102

निर्धारण हेतु महत्त्वपूर्ण आधार माने जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में नागेन्द्र कुल का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है, जबकि श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यवज्र के प्रशिष्य एवं वज्रसेन के शिष्य आर्य नाग से नाइल या नागिल शाखा के निकलने का उल्लेख है।[43] श्वेताम्बर पट्टावलियों के अनुसार भी वज्रसेन के शिष्य आर्य नाग ने नाइल शाखा प्रारम्भ की थी। विमलसूरि इसी नागिल शाखा में हुए है। नन्दीसूत्र में आचार्य भूतदिन्न को भी **नाइलकुलवंशनंदीकर** कहा गया है।[44] यही विरुद विमलसूरि ने अपने गुरुओं आर्य एवं आर्य विजय को भी दिया है। अतः यह सुनिश्चित है कि विमलसूरि उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बन्धित है और उनका यह **नाइल कुल** श्वेताम्बरों में बारहवीं शताब्दी तक चलता रहा है। चाहे उन्हें आज के अर्थ में श्वेताम्बर न कहा जाये, किन्तु वे श्वेताम्बरों के अग्रज अवश्य है, इसमें किसी प्रकार के मतभेद की सम्भावना नहीं है।

पउमचरियं जैनों के सम्प्रदाय-भेद से पूर्व का हैं:-

पउमचरियं के सम्प्रदाय का निर्धारण करने हेतु यहाँ दो समस्याएँ विचारणीय हैं– प्रथम तो यह कि यदि पउमचरियं का रचनाकाल वीर नि. सं. 530 है, जिसे अनेक आधारों पर अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता है, तो वे उत्तरभारत के सम्प्रदाय विभाजन के पूर्व के आचार्य सिद्ध होगे। यदि हम महावीर का निर्वाण ई. पू. 467 मानते हैं तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई. सन् 64 और वि. सं. 123 आता है। दूसरे शब्दों में पउमचरियं विक्रम की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्थ की रचना है। किन्तु विचारणीय यह है कि क्या वीर नि. सं. 530 में नागिलकुल अस्तित्व में आ चुका था? यदि हम कल्पसूत्र पट्टावली की दृष्टि से

---

43. **थेरेहितो णं अज्जवइरसेणिएहिंतो एत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया**- कल्पसूत्र 221, पृ. 306

44. नाइलकुल-वंसनंदिकरे.....भूयदिन्नमायरिए। –नन्दीसूत्र 44-45

विचार करे तो आर्य वज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन और उनके शिष्य आर्य नाग महावीर की पाट परम्परा के क्रमशः 13वें, 14वें एवं 15वें स्थान पर आते हैं।[45] यदि आचार्यों का सामान्य काल 30 वर्ष मानें तो आर्यवज्रसेन और आर्यनाग का काल वीर नि. के 420 वर्ष पश्चात् आता है, इस दृष्टि से वीर नि. के 530वें वर्ष में नाइलकुल का अस्तित्व सिद्ध हो जाता ह। यद्यपि पट्टावलियों में वज्र स्वामी के समय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु निह्नवों के सम्बन्ध में जो कथायें हैं, उसमें आर्यरक्षित को आर्य भद्र और वज्र स्वामी का समकालीन बताया गया है और इस दृष्टि से वज्रस्वामी का समय वीर नि. 583 मान लिया गया है। किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। इस संबंध में विशेष ऊहापोह करके कल्याणविजयजी ने आर्य वज्रसेन की दीक्षा वीर नि. सं. 486 में निश्चित की है। यदि इसे हम सही मान ले तो वीर नि. सं. 530 में नाईल कुल का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं आती है। पुनः यदि कोई आचार्य दीर्घजीवी हो तो अपनी शिष्य परम्परा में सामान्यतया वह चार-पाँच पीढ़ियाँ तो देख ही लेता है। वज्रसेन के शिष्य आर्य नाग, जिनके नाम पर नागेन्द्र कुल की स्थापना हुई, अपने दादा गुरु आर्य वज्र के जीवनकाल में जीवित हो सकते हैं। पुनः आर्य वज्र का स्वर्गवास वी. नि. सं. 584 में हुआ ऐसा अन्य स्रोतों से प्रमाणित नहीं होता है। मेरी दृष्टि में तो यह भ्रान्त अवधारणा है। यह भ्रान्ति इसलिए प्रचलित हो गई कि नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य वज्र के पश्चात् सीधे आर्य रक्षित का उल्लेख हुआ। इसी आधार पर उन्हें आर्य वज्र का सीधा शिष्य मानकर वज्रसेन को उनका गुरूभ्राता मान लिया गया और आर्य रक्षित के काल के आधार पर उनके काल का निर्धारण कर लिया गया। किन्तु नन्दीसूत्र में आचार्यों के क्रम में बीच-बीच में अन्तराल रहे है। अतः आचार्य विमलसूरि का काल वीर निर्वाण सं. 530 अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी का पूर्वार्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती है। यदि हम पउमचरियं

---

45. पट्टावली परागसंग्रह (कल्याणविजयजी), पृ. 27 एवं 138-139

के रचनाकाल वीर नि. सं. 530 को स्वीकार करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि उस काल तक उत्तरभारत के निर्ग्रन्थ संघ में विभिन्न कुल शाखाओं की उपस्थिति और उनमें कुछ मान्यता भेद या वाचनाभेद तो था फिर भी स्पष्ट संघभेद नहीं हुआ था। दोनों परम्पराएँ इस संघभेद को वीर निर्वाण सं. 606 या 609 में मानती है। अतः स्पष्ट है कि अपने काल की दृष्टि से भी विमलसूरि संघभेद के पूर्व के आचार्य हैं और इसलिए उन्हें किसी संप्रदाय विशेष से जोड़ना संभव नहीं है। हम सिर्फ यही कह सकते हैं वे उत्तर भारत के उस श्रमण संघ में हुए हैं, जिसमें से श्वेताम्बर और यापनीय दोनों धाराएँ निकली हैं। अतः वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज है और दोनों ने उनका अनुसरण किया है। यद्यपि दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा के प्रभाव से यापनियों ने उनका कुछ मान्यताओं को अपने अनुसार संशोधित कर लिया था, किन्तु स्त्रीमुक्ति आदि तो उन्हें भी मान्य रही है।

पउमचरियं में स्त्रीमुक्ति आदि की जो अवधारणा है वह भी यही सिद्ध करती है कि वे इन दोनों परम्पराओं के पूर्वज हैं, क्योंकि दोनों ही परम्परायें स्त्रीमुक्ति को स्वीकार करती है। यदि कल्पसूत्र स्थविरावली के सभी गण, कुल, शाखायें श्वेताम्बर द्वारा मान्य है, तो विमलसूरि को श्वेताम्बरों का पूर्वज मानने में कोई बाधा नहीं है। पुनः यह भी सत्य है कि सभी श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी परम्परा का मानते रहे हैं। जबकि यापनीय रविषेण और स्वयंभू ने उनके ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए भी उनके नाम का स्मरण तक नहीं किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि वे उन्हें अपने से भिन्न परम्परा का मानते थे। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उसी युग में हुए हैं जब श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर का स्पष्ट भेद सामने नहीं आया था। यद्यपि कुछ विद्वान उनके ग्रन्थ में मुनि के लिए **सियंबर** शब्द के एकाधिक प्रयोग देखकर उनकी श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध करना चाहेंगे, किन्तु इस संबंध में कुछ सावधानियों की अपेक्षा है। विमलसूरि के इन दो-

चार प्रयोगों को छोड़कर हमें प्राचीन स्तर के साहित्य में कहीं भी श्वेताम्बर या दिगम्बर शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता है। स्वयं विमलसूरि द्वारा पउमचरियं में एक भी स्थल पर दिगम्बर शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। विद्वानों ने भी विमलसूरि के पउमचरियं में उपलब्ध श्वेताम्बर (सियंबर) शब्द के प्रयोग को संप्रदाय सूचन न मानकर उस युग के सवस्त्र मुनि का सूचक माना है। हो सकता है कि परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों या प्रतिलिपि कर्ताओं ने यह शब्द बदला हो, यद्यपि ऐसी संभावना कम है। क्योंकि सीता साध्वी के लिये भी सियंबार शब्द का प्रयोग उन्होंने स्वयं किया होगा। मुझे ऐसा लगता है विमलसूरि के युग तक जैन मुनियों में वस्त्र रखने की प्रवृत्ति विकसित हो चुकी थी। मथुरा के ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के अंकन भी इसकी पुष्टि करते हैं। जिस प्रकार सवस्त्र साध्वी सीता को विमलसूरि ने सियंबरा कहा उसी प्रकार सवस्त्र मुनि को भी सियंबर कहा होगा। उनका यह प्रयोग निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा वस्त्र रखने की प्रवृत्ति का सूचक है, न कि श्वेताम्बर दिगम्बर संघभेद का। विमलसूरि निश्चित ही श्वेताम्बर और यापनीय—दोनों के पूर्वज हैं। श्वेताम्बर उन्हें अपने संप्रदाय का केवल इसीलिए मानते हैं कि उनकी पूर्व परम्परा से जुड़े हुए हैं।

श्रीमती कुसुम पटोरिया ने महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, वर्ष 1977 ई., पृष्ठ 257 पर इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि विमलसूरि और पउमचरियं यापनीय नहीं है। वे लिखती हैं कि निश्चित विमलसूरि एक श्वेताम्बराचार्य है। उनका नाइलवंश, स्वयंभू द्वारा उनका स्मरण न किया जाना तथा उनके (ग्रन्थ में) श्वेताम्बर साधु का आदरपूर्वक उल्लेख-उनके यापनीय न होने के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विमलसूरि और उनके ग्रन्थ पउमचरियं को यापनीय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह भी है कि उनकी कृति महाराष्ट्री प्राकृत को अपने ग्रन्थ की भाषा नहीं बनाया है। यापनीयों ने सदैव ही अर्धमागधी से प्रभावित शौरसेनी प्राकृत को ही अपनी भाषा माना है।

अतः आदरणीय पं. नाथुरामजी प्रेमी ने उसके यापनीय होने के संबंध में जो संभावना प्रकट की है, वह समुचित प्रतीत नहीं होती है। यह ठीक है कि उनकी मान्यताओं की श्वेताम्बरों एवं यापनीयों दोनों से समानता है, किन्तु इसका कारण उनका इन दोनों परम्पराओं का पूर्वज होना है– श्वेताम्बर या यापनीय होना नहीं। कालकी दृष्टि से भी वे इन दोनों के पूर्वज ही सिद्ध होते हैं। पुनः यापनीय आचार्य रविषेण और अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू द्वारा उनकी कृति का पूर्णतः अनुसरण करने पर भी उनके नाम का उल्लेख नहीं करना यही सूचित करता है कि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं मानते थे। अतः सिद्ध यही होता है कि विमलसूरि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्परा के पूर्वज है। श्वेताम्बरों ने सदैव अपने पूर्वज आचार्यों को अपनी परम्परा का माना है। विमलसूरि के दिगम्बर होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यापनीयों ने उनका अनुसरण करते हुए भी उन्हें अपनी परम्परा का नहीं माना, अन्यथा रविषेण और स्वयंभू कहीं न कहीं उनका नाम निर्देश अवश्य करते। पुनः यापनीयों की शौरसेनी प्राकृत को न अपना कर अपना काव्य महाराष्ट्री प्राकृत में लिखना यही सिद्ध करता है कि यापनीय नहीं है।

अतः विमलसूरि की परम्परा के सम्बन्ध में दो ही विकल्प हैं। यदि हम उनके ग्रन्थ का रचना काल वीर निर्वाण सम्वत् 530 मानते हैं तो हमें उन्हें श्वेताम्बर और यापनीयों का पूर्वज मानना होगा। क्योंकि श्वेताम्बर की उत्पत्ति वीर निर्वाण के 606 वर्ष वाद और दिगम्बर श्वेताम्बरी की उत्पत्ति वीर निर्वाण के 609 वर्ष बाद ही मानते है। यदि हम इस काल को वीर निर्वाण सम्वत् मानते है, वे श्वेताम्बरों और यापनीयों के पूर्वज सिद्ध होगे और यदि इसे विक्रम संवत् मानते है तो जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है, तो उन्हें श्वेताम्बर आचार्य मानना होगा।

अपभ्रंश का भाषिकी स्वरूप : सन्दर्भ के विविध आयाम

डॉ. अभिजीत भट्टाचार्य

अपभ्रंश : भाषिकी स्वरूप एवं प्रकृति :

'अपभ्रंश' कहते ही इसके निकटतम शब्द साम्य 'अपभ्रष्ट' का स्मरण हो आता है। 'अपभ्रंश' शब्द अपने व्यापक अर्थ में अधिकतर प्रयुक्त होता रहा है। शब्दों के विकृत रूप को 'अपभ्रंश' कहते हैं। इसके निकटतम शब्द के रूप में भरतमुनि ने 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है, जो अपभ्रष्ट का समानार्थी है।[1] अपभ्रष्ट के मूलार्थ में 'अपभ्रंश' आता है, जिसके लिए महाभाष्य रचयिता महर्षि पतंजलि ने 'पतित' या 'अपशब्द' के अर्थ में इसे द्योतित किया है। पतंजलि कहते हैं–

'भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयाँसः शब्दा इति। एकेकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, तद्यथा गोरित्यस्य शब्दस्य गावी गोपी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशः'[2]।

उपर्युक्त श्लोक से यह जानकारी मिलती है कि संस्कृत के साधुशब्दों के अतिरिक्त जो शब्दरूप हैं, उन्हें अपभ्रंश संज्ञा से अभिहित किया गया। 'महाभाष्य' के रचयिता ने 'गाबी', 'गोणी' आदि प्राकृत अपशब्दों को इनमें उद्धृत किया है, पर परवर्तीकालीन बोली या साहित्यिक अपभ्रंश के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है।

जहाँ तक रचनाकारों तथा समीक्षकों का सवाल है, **आचार्य भामह** सबसे प्राचीन व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपभ्रंश का उल्लेख एक साहित्यिक भाषा के रूप में किया था (संस्कृत प्राकृतं चान्यदपभ्रंश,

---

1. Natyasastra, Gaekwad's Oriental Series, Baroda, Part II, Chapter 17.3
2. महाभाष्य, निर्णयसागर संस्करण, 1938, पृष्ठ 31

इति त्रिधा)[3]। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के प्रयोग में 'अपभ्रष्ट' शब्द से जो अनादर की भावना झलकती है वह भामह कृत अर्थबोध में द्रष्टव्य नहीं है। पर जहाँ दोनों के समाहार के आधार पर अपभ्रंश का स्वरूप निर्धारण करना है, तो हमें आचार्य दंडी की ओर मुड़ना होगा। **काव्यादश** में दंडी ने अपभ्रंश को वाङ्मय की एक भाषा के रूप में निरूपित किया है। एक तरह से दंडी ने अपभ्रंश का **समाजभाषावैज्ञानिक साधारणीकरण** (Sociolinguistic Generalisation) किया है। वे कहते हैं, काव्य में आभीरादि की भाषा अपभ्रंश है तथा शास्त्रों के अनुसार संस्कृत इतर (= से अलग / भिन्न) सभी भाषाएँ अपभ्रंश है।[4]

ध्यान देने की बात है कि दंडी ने अपभ्रंश के प्रसंग में भाषिकी स्वरूप के साथ आभीरों का जातिगत उल्लेख किया है। इसी संदर्भ में भरतमुनि ने आभीरों की बोली को **विभाषा** कहा है।[5] दंडी ने अपभ्रंश **आसारबन्ध** काव्य का जो उल्लेख (काव्यादर्श 1.37) किया है, उसके सम्यक प्रमाण तो विद्वानों को नहीं मिले, पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनके समय के बहुत पहले ही अपभ्रंश में साहित्य रचना होने लगी थी। दंडी भी अपभ्रंश के भाषिकी स्वरूप तथा भेदोपभेदों को लेकर मौन है।[6] इन जानकारियों के लिए हमें रुद्रट के, **काव्यालंकार** तथा **नमिसाधु** (1069 ई.) के वक्तव्य की ओर मुड़ना पड़ता है। देशभेद के अनुसार अपभ्रंश के अनेक भेद हैं— यह संकेत रुद्रट देते हैं। दूसरी तरफ **टीकाकार नमिसाध ने उपनागर, आभीर तथा ग्राम्यत्व** आदि तीन प्रधान भेद किए हैं। विशेष लक्षणों के लिए उन्होंने अपने समय के समाज की ओर संकेत किया है। नमिसाधु के

---

3. काव्यालंकार, चौखम्बा संस्करण, काशी, 1.16 तथा 1.28
4. Kavyadarsa, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1938, 1.32,1.36
5. Natyasastra, 17.50, Baroda, 1934
6. डॉ. रामसिंह तोमर, प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1968, पृ. 54

उल्लेख (2.12 और टीका) से हम यह भी जान पाते हैं कि अपभ्रंश और प्राकृत में वे उतनी भिन्नता नहीं मानते। लोक की बोली (जनभाषा) में अपभ्रंश के लक्षण को देखने की प्रक्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

नमिसाधु जैसे विद्वान टीकाकार ने इस बात की ओर इंगित किया है कि तत्कालीन समयकाल में अपभ्रंश को पतित नहीं समझा जाता था। राजसभाओं तथा विद्वत्सभाओं में अपभ्रंश को आदर मिलने लगा था। इसका प्रमाण हमें राजशेखर के **काव्यमीमांसा** में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। राजशेखर कृत **काव्यमीमांसा** में रचनाकार ने विशेष तौर पर अपभ्रंश की प्रशंसा की है। **बालरामायण** (1.10) में उन्होंने अपभ्रंश काव्य को **सुभव्य** कहा है।[7] यद्यपि राजशेखर की रचनाओं से अपभ्रंश के भेदों की जानकारी नहीं मिलती, परन्तु आंचलिक स्तर पर कई अंचलों के अधिवासियों द्वारा अपभ्रंश के बोले जाने की बात कहीं है–

सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च;[8]

उन्होंने अपभ्रंश के भाषिकी प्रयोगकर्ताओं में सकल, मरु, टक्क और भादानक अंचलों के निवासियों का उल्लेख किया है।

राजशेखर आदि विद्वान टीकाकारों तथा अन्य लेखनकर्ताओं के रचनात्मक प्रमाणों से यह तथ्य पाया जाता है कि इनके समय में अपभ्रंश भाषा को पतित नहीं माना जाता था। राजसभाओं तथा विद्वत्परिषदों में अपभ्रंश अब आदर पाने लगी थी।

अपभ्रंश भाषा स्थानीय भेदों के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान में आंचलिक अन्तर के साथ बाह्य भाषिकी अन्तरों से भी प्रभावित था। **वाग्भटालंकार** में इस अन्तर को बड़े स्पष्ट तरीके से

---

7. डॉ. रामसिंह तोमर के अनुसार अपभ्रंश को काव्य-पुरुष का जघन माना गया है। देखिए, प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृष्ठ 54

8. काव्यमीमांसा, पृष्ठ 51

कहा गया है– **अपभ्रंशस्तु मच्छुद्धं तत्तदेशेषु भाषितम्** (वा./2.3)। अपभ्रंश के लोकप्रिय होने का प्रमाण हमें भोज कृत **सरस्वतीकंठाभरण** में प्राप्त होता है, जहाँ उन्होंने कहा है–**अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः** अर्थात् अपभ्रंश से ही गुर्जर तुष्ट हुआ करते हैं।[9] इनमें **कलिकालसर्वज्ञ** उपाधि पानेवाले हेमचन्द्राचार्य भी आते हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा का न सिर्फ परिनिष्ठित व्याकरण रचा, बल्कि उसके छंदों का भी सम्यक विवेचन किया है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख नहीं किया किन्तु उसके वैकल्पिक रूपों को स्वीकारा है। डॉ. रामसिंह तोमर ने इस प्रसंग में यह तथ्य दिया है कि सिद्धहैम के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के सूत्र 341, 360, 372, तथा 391 में निर्धारित नियम उसी के दूसरे नियमों से मेल नहीं खाते।[9]

अपभ्रंश के भेदों से सम्बन्धित अपनी बात रखते हुए शारदातनय ने उसके तीन भेद किए हैं– **अपभ्रंशाह्वयां भाषां सप्तमीमपरे विदुः एता नागरकग्राम्योपनागरक भेदतः**[10]

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र को अपभ्रंश काव्य की अंतिम स्तम्भ के रूप में विद्वान मानते रहे हैं।[11] हेमचन्द्र-परवर्ती अपभ्रंश कृतियों में, व्याकरणिक अध्ययन की प्रवृत्ति अधिक पाई गई। विश्वनाथ आदि समीक्षकों ने अपभ्रंश के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक धारा विस्मृत हो चुकी थी।

अपभ्रंश काव्य पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा था। इस संदर्भ में डॉ. तोमर कहते हैं—

---

9. देखिए डॉ. रामसिंह तोमर, प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृष्ठ 55
10. भावप्रकाशनं, दशमोधिकारः, पृष्ठ 310
11. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृष्ठ 56

विश्वनाथ ने **साहित्य दर्पण** में अपभ्रंश महाकाव्यों को **सर्गबद्ध** बताया है। अपभ्रंश काव्यों का सर्गों में विभाजन निश्चित ही कृत्रिम और संस्कृत से प्रभावित प्रतीत होता है।[12]

इस प्रकार अपभ्रंश के भाषिकी स्वरूप पर हम उपरोक्त समीक्षण के आधार पर एक आपात निष्कर्ष तक पहुँचते हैं।

पंतजलि और **भरत** के समयकाल तक अपभ्रंश का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। संस्कृत साधु शब्दों के अतिरिक्त सभी शब्दों को तत्कालीन पण्डितवर्ग विकृत, अपभ्रष्ट, अपभ्रंश, अपशब्द आदि नामों से अभिहित करते थे। अपभ्रंश एक भ्रष्ट तथा निकृष्ट कोटि का भाषिकी-स्वरूप है, ऐसी एक धारणा तत्कालीन प्रबुद्ध वर्गों में फैली हुई थी।

समयकाल के आधार पर परवर्ती युगों में इन शब्दों का उपयोग काव्य में होने लगा। आचार्य भामह और दण्डी (समयकाल छठी शताब्दी ई. का पूर्वार्ध) के युग में अपभ्रंश में काव्य सर्जना शुरू हो चुकी थी। यह अपने आप में एक उपलब्धि है कि संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश को तत्कालीन समय में काव्य-भाषा का दर्जा मिलने लगा। राजशेखर की रचनाओं से पता चलता है कि अपभ्रंश को राजसभाओं तथा विद्वन्मण्डलियों में मान्यता मिलने लगी थी। काव्य भाषा के तौर पर यह स्वीकृति अपभ्रंश को एक नवीन विकसित चरण तक पहुँचाने में मदद की, इसमें कोई संदेह नहीं है। देशानुसार अपभ्रंश के कई उपभेद पाए गए। कई अपभ्रंशीय भाषिकी भेदों में सक्रिय तौर पर साहित्य की रचना होती थी।

इन पक्षों के अलावे दो ऐसे पहलू और भी हैं, जिन्हें लेकर विद्वानों में आलोचन-प्रत्यालोचन चलता रहा है। उनमें से पहला है अपभ्रंश के साथ आभीर गुर्जरों का सम्बन्ध और अपभ्रंश के विभिन्न भेदों पर बने विद्वानगणों के वैचारिक आयाम ।

---

12. वहीं, पृष्ठ 56

आभीर जातियाँ : अपभ्रंश से सरोकार :

जहाँ तक आभीर-गुर्जरों के साथ अपभ्रंश के पारस्परिक सम्बन्ध का सवाल है, तो उसके कई प्राचीन सूत्र हम देख पाते हैं। महाभारत में आभीरों को पारद के श्रेणियों से जोड़कर देखा गया है। उन्हें वृषल और पापकर्म में रत तथा **लोभोपहत** कहा गया है।[13] महाभाष्य में उनको शूद्रगणों की एक जाति (शूद्राभीर) के रूप में अभिहित किया गया है।[14] वायु पुराण में यवनादि के साथ आभीरों का उल्लेख हुआ है।[15] कई प्रसिद्ध शिलालेखों में आभीरों का उल्लेख मिलता है। आभीरों को यवन, म्लेच्छ, दस्यु आदि विशेषणों से अलंकृत किया गया है। उनके प्रबल पराक्रम तथा राज्य-स्थापन का प्रसंग कई शिलालेखों में देखने को मिलता है।[16] आभीर शब्द को अमरकोष में गोप, गोपाल, गोसंख्य, गोधुक और वल्लव का पर्यायवाची माना गया है। इस तरह से प्राचीन भारतीय साहित्य में आए हुए आभीरों के उल्लेखों से अनुमान किया जा सकता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही, या प्रारंभिक शतियों में वे बाहर से आए थे।[17] डॉ. तोमर कहते हैं— भिन्न कुल (शक-आभीर-गुर्जरकुल) के होने के कारण ही कदाचित उन्हें म्लेच्छ या वर्णसंकर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[18] ये मूलतः पश्चिम प्रदेश, मथुरादि अंचलों के रहे हैं और पशुचारण इनके जीविका का प्रधान साधन रहा है।

---

13. देखिए महाभारत के अन्तर्गत सभापर्व 51.11, आश्वमेधिक पर्व 99.15-16, मौषल पर्व 7.47 तथा 8.16
14. महाभाष्य (पतंजलि कृत) 1.2.72
15. देखिए वायु पुराण, द्वितीय भाग, अध्याय 37.352
16. शिलालेख सम्बन्धी तथ्यात्मक जानकारी के लिए देखिए Epigraphica Indica, Part 8, pp. 88, Archaeological Survey (West India) 4.103 तथा Corpus Inscriptions Indicarum Part III, p.8 और Epigraphica Indica XVI. (आभीर सेनानायक रुद्रमूर्ति का शिलालेख), समयकाल 181 ई., पृष्ठ 233 से आगे।
17. डॉ. रामसिंह तोमर, प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृष्ठ 57
18. वही, पृष्ठ 58-59

नाट्यशास्त्र में **भरतमुनि** ने पश्चिमी प्रदेशों की भाषा (हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि) को **उकार बहुला** (भाषा-प्रयोग में **ह्रस्व-उ** का अधिकाधिक प्रयोग) कहकर निर्धारित किया है। चूँकि आंचलिकता की नजरिए से आभीर पश्चिम प्रान्त के ही निवासी रहे हैं अतः उनका भाषिकी सम्बन्ध उकार बहुला बोली के साथ जोड़ा जा सकता है। यहीं उकार बहुलता अपभ्रंश भाषा की भी विशेषता है। विद्वानगणों के अनुसार आभीरों ने संस्कृत या आर्यभाषा का अपने ढंग से प्रयोग करके एक नया रूप दिया था और पंडितवर्ग ने उसे पतित कहकर अपभ्रंश नाम दिया। दंडी ने अपने **काव्यादर्श** ग्रन्थ में इसी परम्परा का उल्लेख किया है।[19]

आभीर, गुर्जर, जाट आदि सब एक कुल की ही जातियाँ हैं। मथुरा से सुदूर सिन्धु देश तक इन कृषिजीवी तथा पशुपालक जातियों का प्रभाव बना रहा। उपरोक्त वर्णित आभीरों के समान ही गुर्जर भी घुमक्कड़ शक कुल की एक जाति है। गुर्जरों का प्राचीनतम उल्लेख छठी सदी ई. में मिलता है, जो यह तथ्य प्रदान करता है कि हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन ने उनके विरुद्ध युद्ध किया था। जब आभीर-गुर्जर कुल के साथ अपभ्रंश को सम्पृक्त किया जाता है, तो वह बड़े अर्थव्यंजक, ऐतिहासिक तथा सुदूरप्रभावी प्रतीत होते हैं। इन जातियों के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि ये जो आभीर-गुर्जर आदि जातियाँ थीं, ये संस्कृतज शब्दों तथा भाषिकी प्रयोग का उच्चारण अपने निजी तरीके से करती थी। लोक-प्रचलित व्याकरणों पर इन भाषा-व्यवहारों का सीधा प्रभाव पड़ा। तत्कालीन पण्डितवर्ग को अवश्य ही यह औच्चारणिक तथा व्याकरणिक स्वातंत्र्य खटका होगा। दूसरे कुल के होने के कारण इस विरोध ने और गहरा रूप लिया। तभी आभीर व गुर्जरों की भाषा को अपभ्रंश नाम दिया गया होगा। इन कुलों द्वारा रचित अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचनाएँ होती रही और वह अपनी स्वकीय विशेषताओं को लेकर

---

19. तरुणवाचस्पति टीका, Bibliotheca Edition

मौलिक साहित्य संरचना का पुष्ट व प्रकृष्ट उदाहरण बनी। कालान्तर में अपभ्रंश को साहित्यिक भाषाओं में अपना स्थान मिला।

अपभ्रंश के भेद : परम्परा और स्वरूप :

अपभ्रंश के भाषिकी भेदों पर जब विशिष्ट तौर पर हम नजर डालते हैं, तो उसके कई भेदात्मक स्वरूप हमें प्राप्त होते हैं। **काव्यालंकार** के अनुसार–**भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः**[20] जिसका अर्थ है, देश विशेष के अनुसार अपभ्रंश के अनेक भेद होते हैं। **शारदातनय** तथा **साहित्यदर्पणकार** के अनुसार अपभ्रंश के **नागर, उपनागर, आभीर** तथा **ग्राम्य** आदि भेद निर्धारित किए जा सकते हैं। अब तक उद्धृत साहित्य-शास्त्रियों की सीमा यह रही कि इन्होंने पारम्परिक तौर पर अपभ्रंश के भेदों का उल्लेख मात्र किया है परन्तु उनके विस्तार, क्षेत्र लक्षण आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने भी अपभ्रंश के भाषिकी विवेचन में उसके भेदों की चर्चा कई बार की हैं।

प्राकृत वैयाकरणों की परम्परा को डॉ. ग्रियर्सन ने पूर्वी तथा पश्चिमी दो वर्गों में विभाजित किया है। हरमैन याकोबी (Herman Jacobi) जैसे विशेषज्ञ भी इस विभाजन का समर्थन करते हैं। प्राकृत वैयाकरणों में पश्चिमी सम्प्रदाय के सबसे प्राचीन हेमचन्द्र माने जाते हैं, जिनके **सिद्धहेमशब्दानुशासन** ग्रन्थ के अष्टम अध्याय के चतुर्थ चरण (सूत्र 329-446) में उन्होंने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। यद्यपि हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के भेदों पर किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण में जिस अपभ्रंश का उल्लेख है, उसकी शैली तथा वाक्य निर्माण पद्धति में प्रकारभेद पाया जा सकता है।

हेमचन्द्र ने जो व्याकरणिक नियम बनाए उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे महाराष्ट्री प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के दो आधार मानते

---

20. काव्यालंकार, 2.12

हैं (प्रायोग्रहणादस्यापभ्रंश विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत शौरसेनीवच्च कार्य भवति)[21]।

हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती चंड (समयकाल चौथी शताब्दी) ने एक सूत्र के आधार पर अपभ्रंश की चर्चा की है (**न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य**)।[22] उनकी ही तरह **सिंहराज** (तेरह-पन्द्रहवीं शती ई.) ने भी **शौरसेनीवत्** कहकर अपभ्रंश की चर्चा की है। **लक्ष्मीधर** (सोलहवीं शती ई.) ने हेमचन्द्र का आधार मानते हुए अपभ्रंश को प्राकृत के छठे भेद के रूप में सम्प्रेषित किया है।[23] वैयाकरणों का पश्चिम वर्ण शौरसेनी को अपभ्रंश का आधार मानता रहा है। डॉ. रामसिंह तोमर यह मानते हैं कि आभीरों का आधिपत्य पश्चिम प्रदेश में ही अधिक रहा। पश्चिमी अपभ्रंश का आधार भाषावैज्ञानिक शौरसेनी को मानते हैं, जिसके पर्यायवाची के रूप में आभीरी का स्थान है। गौरतलब है कि पश्चिमवर्गीय वैयाकरणों ने अपभ्रंश के भाषिकी भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

जहाँ तक **पूर्वीय वर्ग** के वैयाकरणों का सवाल है, तो इनके **प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि** ने अपभ्रंश का कहीं उल्लेख नहीं किया है। तेरहवीं शती ई. के उत्तरवर्ती समयकाल में क्रमदीश्वर ने छंदों के आधार पर अपभ्रंश के भेदों की व्याख्या की है। **क्रमदीश्वर** ने अपने भाषिकी सूत्रों में इस बात का उल्लेख किया है कि ब्राचड़ रेफ़्युक्त उच्चारण से युक्त होता है तथा उसमें दोहादि की रचना हुई हैं। उन्होंने रासक आदि में नागर के प्रयोग की ओर इशारा किया है। चूँकि हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में दोहा छंदों को उद्धृत किया है, इस कारण क्रमदीश्वर के अनुसार उन्हें हम ब्राचड़ अपभ्रंश मान सकते हैं। इन भाषिकी प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि क्रमदीश्वर ने भेदों का

---

21. सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र 396 तथा 445
22. चंडकृत प्राकृतलक्षण, 1923 (कलकत्ता) सूत्र 3.41
23. षड्भाषाचन्द्रिका (के. पी. त्रिवेदी सम्पादित), मुम्बई

उल्लेख करते हुए भी प्रान्तों का प्रयोग नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक अपभ्रंश का ही केवल उन्होंने विवेचन किया है। सामान्यतः दोहा और रासक रचनाएँ छंदबद्ध रूप से पश्चिम प्रदेशों में ही रची जाती रही हैं। **रासक** नामक ये पश्चिम प्रदेश की रचनात्मक शैलियाँ साहित्यिक निर्माण के प्रकृष्ट उदाहरण के रूप में सामने आई। ध्यातव्य है कि पूर्वीय प्रदेशों में **रासक** नामक कोई रचना नहीं मिलती। जहाँ हेमचन्द्र ने दोहा शैली को अपनाया है, वहीं रासक छंदबद्ध रचनाएँ प्रायः पश्चिम प्रदेशों में ही प्रिय रही हैं। अतः ब्राचड़ और अपभ्रंश (नागर) का उपयोग क्षेत्र पश्चिम का इलाका रहा है।

बारहवीं सदी के वैयाकरण **पुरुषोत्तमदेव** ने नागरक, ब्राचड़ और उपनागरक के रूप में अपभ्रंश के भेदों की चर्चा की है। इस संदर्भ में **ग्रियर्सन** ने **नागर अपभ्रंश** को **गुजरात का, उपनागर पश्चिम राजस्थान** का तथा **दक्षिण पंजाब** के साथ और **ब्राचड़** को **सिन्धुदेश** के साथ जोड़ा है। पुरुषोत्तम ने नागरक को प्रधान अपभ्रंश माना है। इन तीन भेदों के अतिरिक्त आंचलिक स्थानानुसार उन्होंने पांचाल, वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौड़ी, ढक्क, वक्कर, कुन्तल, पांड्य, सिंहल आदि भाषाओं के नाम दिए हैं। परन्तु भाषिकी लक्षण उन्होंने दिया नहीं है। हालांकि अपभ्रंश के प्रदेशों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है परन्तु पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश को शिष्टों की भाषा (शेष शिष्टप्रयोगात्) कहा है।[24]

अपभ्रंश के विभिन्न भेदों पर सांगोपांग विवेचन हमें **रामशर्मातर्कवागीश** (सोलहवीं सदी ई.) के **प्राकृतकल्पतरू**[25] नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने 27 (सत्ताइस) प्रकार के अपभ्रंशों का नाम तथा संक्षेप में उनकी विशेषताओं को भी वर्णित किया है।

---

24. प्राकृतानुशासन, 90

25. Indian Antiquary, Part 51,52, Edited by George Abraham Grierson.

सत्रहवीं सदी ई. के प्रख्यात **ओड़िया कवि** तथा वैयाकरण, **मार्कण्डेय** द्वारा रचित **प्राकृतसर्वस्व** में अपभ्रंश के विस्तृत विवेचन को हम देख पाते हैं। मार्कण्डेय ने नागर, उपनागर और ब्राचड़ के साथ अनेक सूक्ष्म भेदों के होने का संकेत दिया है। साथ ही वे सत्ताइस भेदों के भी नाम गिनाए हैं। उन्होंने नागर अपभ्रंश को मूल माना है (**अपभ्रंशभाषा-सुमूलत्वेन प्रथमं नागरमाह**)[26]। साथ ही नागर का ब्राचड़ से सिद्ध होना कहते हुए उसे सिन्धु देश की भाषा कहा है (ब्राचड़ो नागरात्सिद्धयेत् तथा सिन्धुदेशोद्भवो ब्राचड़ोपभ्रंशः)[27]।

वैयाकरण जिस तरीके से अपभ्रंश का विवेचन करते हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि पश्चिमी वैयाकरणों ने भाषा-विवेचन करते समय, भाषा-भेदों का उल्लेख नहीं किया है। हेमचन्द्र के ग्राम्य को पूर्वीय वैयाकरणों का समर्थन नहीं मिलता। क्रमदीश्वर और हेमचन्द्र में भेदगत सामान्यता मिलती है। क्रमदीश्वर द्वारा बताए भेदों को हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का ही लक्षण माना है। हेमचन्द्र के अपभ्रंश को हम इस नाते ब्राचड़ मान सकते हैं। इधर क्रमदीश्वर **ब्राचड़** को प्रधान अपभ्रंश मानते हुए दूसरे वैयाकरणों की भाँति उसे पश्चिम अंचल, विशेषकर सिन्धु देश का अपभ्रंश मानते हैं।

अपभ्रंश की देशीय सत्ताः उपादानगत आयाम

विद्वानों में यह प्रधान समस्या रही, कि क्या अपभ्रंश को देशी भाषा माना जाय? **देशभाषा** शब्द का प्रयोग **भरत** ने अपने **नाट्यशास्त्र** में सर्वप्रथम किया था (नाट्य शास्त्र, 17.48)। **वात्स्यायन** ने चौसठ कलाओं में से देशभाषाविज्ञान को भी एक महत्त्वपूर्ण कला माना है।[28] यह इंगित देश-विदेश की बोली से है, न कि अपभ्रंश से। डॉ. तगारे के

---

26. वही, पृष्ठ 349

27. वही, पृष्ठ 357

28. कामसूत्र (वात्स्यायन प्रणीत), 1.3.16

अनुसार– छठी शती में ही चण्ड की रचनाओं में ही सर्वप्रथम अ-संस्कृत तथा अ-प्राकृत शब्दावली उदाहृत होते हुए हम देख पाते हैं।

बहरहाल, देशी भाषा से विद्वानों तथा भाषा वैज्ञानिकों में तात्त्विक स्तर पर अब तक मतवैभिन्य बना हुआ है। इनमें **जर्मन** विद्वान **हर्मन याकोबी (Herman Jacobi)** का मत ही सर्वग्राह्य हुआ। उनके अनुसार--देशीभाषा एक प्रकार की मिश्र भाषा है, जिसका उत्स है कुछ संस्कृत या लौकिक संस्कृत। प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार यह संस्कृत काफी हद तक अ-प्रकृतिगत संस्कृत रहा है। इससे पहले कहा जा चुका है कि हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देशज भाषा में एक बुनियादी फर्क रखने की कोशिश की है। इस फर्क को पहली बार ग्यारहवीं सदी के कश्मीर निवासी कवि **क्षेमेन्द्र** ने मिटाने की कोशिश की। उन्होंने देशी भाषा और अपभ्रंश को समानुपातिक तथा एक ही मान लिया है। **प्राकृतपैंगलं** के टीकाकार रविकर कहते हैं—**देशभाषां तथा केचिद् अपभ्रंशं विदुर्बुधाः।** इन मन्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि कुछ एक लोगों ने अपभ्रंश को देशी भाषा का ही रूप मानकर दोनों को मिला दिया है।

याकोबी की धारणा है कि– देशभाषा का अर्थ सर्वभारतीय जनपद की भाषा (Vernacular) से है। इसका प्रचलन मौखिक स्तर पर, घरेलू कथोपकथन में होता था। इसी कारण आधुनिक आर्यभाषाओं के अनेक शब्दों के साथ देशीय शब्दों का मेल देखा जा सकता है। अपभ्रंश अपने आप में सार्थक लोकभाषा के साथ सम्पृक्त था। प्राकृत संस्कृत का अनुगत रहा, इसी कारण, लोक-उपादानों के भाषिकी तत्त्वों के साथ उसकी अपभ्रंश जैसी ग्रहिष्णुता नहीं थी। इतर-वागधारा से ग्रहण करने की क्षमता अपभ्रंश में प्राकृत से कहीं अधिक थी। इस नाते अपभ्रंश में प्राकृत से कहीं अधिक देशी भाषा के रहने की गुंजायश थी। पर वह तभी संभव होता जब अपभ्रंश में इतरजनोचित ग्राम्यभाषा के उपादान पाए जाते।

वस्तुतः अपभ्रंश के परिमार्जित रूप को ही संस्कृत आलंकारिकों तथा प्राकृत वैयाकरणों ने ग्रहण किया है। इसी कारण हेमचन्द्र जैसे व्याकरण-वेत्ताओं के लिए अपभ्रंश प्राकृत ही है। अपभ्रंश में प्राकृत शब्दावली की प्रचुरता उसके प्राकृत सत्ता को सूचित करती है। अपभ्रंश की भाषिकी सत्ता का यह **द्वैतपरक (dichotomic)** पक्ष है। एक तरफ जहाँ अपभ्रंश प्राचीन वाग्धारा का वाहक है दूसरी तरफ वह नवीन भी है। चूँकि शब्द संयोजन तथा शब्द विन्यास में नहीं, व्याकरणिक विवर्तन में अपभ्रंश अग्रसर है। विभक्तिगत सरलता तथा विस्तार में अपभ्रंश ने जनपदीय भाषा या **लोकसामान्य भाषिकी स्वरूप** (Popular Speech) के साथ घनिष्ठता बनाए रखा।[29]

बहरहाल, ग्यारहवीं सदी तक अपभ्रंश का उपयोग आंचलिक भाषाओं के साहित्यिक आदर्श के रूप में होता था। अभिजात सम्प्रदाय के शिष्ट-वाग्धारा के साथ यह गहरे रूप से सम्पृक्त रहा। आगे चलकर दूसरे प्राकृतों के समान अपभ्रंश में सीमाएँ बँध गई और अपभ्रंश भी उसी सीमा में बँधकर अटका रह गया। बारहवीं सदी से संस्कृत तथा प्राकृत की तरह ही **ध्रुपद-भाषा** (classical language) के रूप में अपभ्रंश स्वीकृत होने लगा। इसी सदी में वाग्भट तथा हेमचन्द्र जैसे भाषाविदों ने देखा कि ग्राम्यभाषा अपभ्रंश से पृथक–देशभाषा **शुद्ध** बनी और अपभ्रंश प्राकृत-मिश्रित स्वरूप में उभरकर सामने आया।[30]

---

29. मजुमदार, परेशचन्द्र, संस्कृत ओ प्राकृत भाषार क्रमविकाश (बांग्ला) पृष्ठ 332

30. **अपभ्रंशस्तु तच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्** (वाग्भटालंकार, 2.3)

इस संदर्भ में देखिए, Pischel ("Apabhramsa sei die reine sprache des betreffenden Landes") Grammatik Der Prakritsprachen (Strasbourg, 1900) - translated into English by, S.Jha, 1957.

भिन्न व्याख्या के लिए देखिए — Jacobi, Herman (die Landessprache ist suddha 'unvermischt', der Apabhramsa ist es nicht, sondem wie wir gesehen haben, durch und durch mit Prakrit verquickt)".

अपभ्रंश का भाषिकी स्वरूप : भाषाविज्ञान का दृष्टिकोण :

भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपभ्रंश की समीक्षा तथा कालानुक्रमिक परिवर्तनशीलता को लेकर कई प्रख्यात विद्वानों ने काम किया है। इनमें रिखार्ट पिशेल (Richard Pischel), जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (George Abraham Grierson), ज्यूल ब्लॉख (Jules Bloch), रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर आदि विद्वान प्रमुख हैं। इनके अनुसार जहाँ तक संभव, संस्कृत प्रभाव से वर्जित शौरसेनी **अपभ्रंश** ही असल में **मध्य भारतीय आर्यभाषा** (Middle Indo-Aryan) के अन्तिम स्तर की यथार्थ लोकभाषा है या **जनपदीय भाषा** है। इसके ठीक पूर्वतन स्तर पर ही **साहित्यिक प्राकृत** (Literary Prakrit) का स्थान है।

ग्रियर्सन ने प्रत्येक प्रादेशिक प्राकृत और उससे सम्पृक्त आधुनिक कथ्य भाषा के मध्यवर्ती स्तर के अन्तर्गत अपभ्रंश के आंचलिक विभेद की कल्पना की है। इसे कुछ इस प्रकार देखा जा सकता है—

शौरसेनी प्राकृत > शौरसेनी या नागर अपभ्रंश > पश्चिमी हिन्दी > राजस्थानी, गुजराती; महाराष्ट्री प्राकृत > महाराष्ट्री अपभ्रंश > मराठी; मागधी प्राकृत > मागधी अपभ्रंश > मागधी अपभ्रंश > बांग्ला, बिहारी, असमिया, ओड़िया, अर्धमागधी प्राकृत > अर्धमागधी अपभ्रंश > पूर्वी हिन्दी; ब्राचड़ अपभ्रंश > सिन्धी, कैकेय अपभ्रंश > लहन्दा आदि।

हम देख पाते हैं कि इनके अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश यथार्थ देशी भाषा है। साहित्यिक भाषा के स्तर को छूने पर भी वह लोकाश्रयी है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि वह ग्राम्य या अश्लील **अपभाषिकीय** (Vulgar Speech) है। एक सर्वभारतीय आधार उसके पीछे बनी हुई है। उधर मूल प्राकृत से कालानुक्रमिकता में वह काफी दूरी रखता है; तभी तो प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश विशेष प्रगतिशील है, इसीलिए प्राकृत के अन्त्य-भाषिकी स्तर से वह सम्पृक्त भी है।

पर यह मत सर्वसम्मत रूप से विद्वान तथा भाषाविदों में मान्य नहीं है। हर्मन याकोबी (Herman Jacobi), लुडविग एल्सडॉर्फ (Ludwig

Alsdorf), अर्थर बेरीडेल कीथ (Arthur Berridale Keith), सुकुमार सेन प्रमुख विद्वानों के अनुसार अपभ्रंश मूलतः प्राकृत ही है। इसीलिए उसका भाषिकी उपयोग काव्य में सिमटकर, आबद्ध रहा। मूलतः धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ उसकी रचनात्मकता सम्पृक्त रही। गुजराती प्रभृति आधुनिक पश्चिमी भाषाओं के साथ उसका मेल है, जो उसके प्रादेशिक स्वरूप का परिचायक है। इसीलिए दूसरे आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ अपभ्रंश का सीधा सम्पर्क स्पष्ट नहीं है परन्तु पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट है। ध्वन्यात्मक निर्माण तथा शब्द भंडार में अपभ्रंश प्राकृत पर आश्रित है तथा रचनारीति और रूपतात्त्विक (Morphological) दृष्टिकोण से वह देशीभाषा के अधिक निकट है। यह देशीभाषा जिस प्रकार अपभ्रंश के कथात्मक स्वरूप का उत्स है, ठीक वैसे ही आधुनिक भाषाओं के लिए भी उसी अर्थ में वह प्रयुक्त होता है। इन विद्वानों के अनुसार अपभ्रंश साधारण प्राकृत के द्वितीय स्तर के अन्तर्भुक्त है। इन विद्वानों ने अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रदान किया है– पहली बात, शौरसेनी अपभ्रंश के अलावे किसी और कल्पित अपभ्रंश का लिखित प्रमाण नहीं मिलता। दूसरे, आधुनिक भाषाओं के साथ कल्पित आंचलिक प्राकृत या अपभ्रंश का मेल नहीं मिलता। उदाहरण के लिए मागधी का विशेष ध्वन्यात्मक लक्षण–र > ल्, पदान्त - अः > - ए तथा श्, ष्, स् > श आदि का व्यापक प्रयोग बांग्ला भाषा में प्रयोग, न के बराबर दिखता है। तथाकथित कल्पित महाराष्ट्री अपभ्रंश के साथ मराठी का कोई संयोग नहीं है। अपभ्रंश का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है– केवल मध्यभारतीय आर्यभाषा के अन्त्य स्तर में से ही उसका उद्भव नहीं है। इसका पुष्ट प्रमाण, प्राचीन प्राकृत साहित्य में, वैयाकरण तथा आलंकारिकों की रचनाओं में देखने को मिलता है।

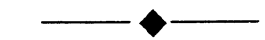

कुवलय माला

श्री केवल मुनि

मैं यहाँ से गुजर रहा था कि तुम्हें एक व्यक्ति का वध करते देखा तो अवधिज्ञान से सब कुछ जानकर भूमि पर उतर आया। तुम्हारे उद्धार के लिए ही तो मैंने यह सब कुछ किया।

तो गुरुवर! मुझे उद्धार मार्ग पर लगाइये। मोहदत्त ने अपनी इच्छा प्रकट की।

तुम यहाँ से कौशाम्बी चले जाओ। वहाँ राजोद्यान में तुम्हें आचार्य धर्मनन्दन के दर्शन होंगे। उन्हीं की कृपा से तुम्हारा उद्धार होगा। यह कहकर मुनिश्री पक्षी के समान आकाश में उड़ गये।

मोहदत्त भी वहाँ से उठा और कौशाम्बी की ओर चल दिया।

यह वृत्तान्त सुनाकर आचार्य धर्मनन्दन ने राजा पुरन्दरदत्त से कहा-

कौशाम्बी नरेश! अपने उद्धार के लिए ही यह मोहदत्त यहाँ आया है।

मोहदत्त अपने स्थान से उठा और आचार्यश्री के चरणों में आ बैठा। आचार्यश्री ने चंडसोम, मानभट्ट, मायादित्य, लोभदेव और मोहदत्त पाँचों को विधिवत दीक्षित कर लिया।

इसके बाद आचार्यश्री ने क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह पाँचों को विजय करने का उपदेश दिया। सम्पूर्ण सभा ने स्वयं को धन्य माना। तब तक दिन का चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ हो गया। आचार्यश्री अपने शिष्य परिवार सहित धार्मिक क्रियाओं में लगे और सभा विसर्जित हो गई।

सभी नर-नारी आचार्यश्री की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घरों की ओर चले जा रहे थे। सबके मुख पर यही शब्द थे–कितना यथार्थ ज्ञान और कैसा अनुपम तेज। शांति तो इतनी कि दर्शनमात्र से ही संताप दूर हो जाता है। संत तो ये ही सच्चे हैं।

धन्नासेठ की कथा :

भोजन आदि से निवृत्त होकर राजा पुरन्दरदत्त शय्या पर लेटा तो उसके मस्तिष्क में आचार्यश्री की बातें घूमड़ने लगीं। रह-रह कर उनकी शांत मूर्ति उसकी आँखों में तैर जाती। उनका वचनामृत कानों में गूँजने लगता।

अधिक ऊहापोह-विचारशीलता संदेह को जन्म देती है। राजा के हृदय में भी सन्देह के भाव उठ्ने लगे–जैसी बातें मुनिश्री सबसे सामने करते हैं, वैसा ही उनका आंचरण भी है क्या? अधिकतर तो होता यह है कि कथनी कुछ। **परोपदेशे पाँडित्यं**– कहीं आचार्य धर्मनन्दन भी तो ऐसे ही नहीं है। अन्य तीर्थिक तो जितने मैंने देखे अधिकतर ऐसे ही निकले।

राजा ने वेश बदला और चल दिया अपने सन्देह का निवारण करने।

रात्रि का प्रथम प्रहर था। नगर के राज-मार्गों और वीथियों को पार करता हुआ जा पहुँचा उद्यान में। देखा–कहीं कोई साधु ध्यानस्थ है तो कोई आगमों का पारायण कर रहा है। कोई आचार्यश्री की वैयावृत्य में लीन तो कोई अपनी शंकाओं का समाधान पूछ रहा है। राजकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोरकथा का कहीं नाम भी नहीं, सिर्फ धर्मकथा ही चल रही थी। सारा वातावरण धर्ममय था। दबे पाँव राजा आचार्यश्री के समीप पहुँचा तब वे नव दीक्षित साधुओं को धर्म का मर्म समझा रहे थे। राजा भी चुपचाप एक स्थान पर बैठकर सुनने लगा। महाराजश्री कह रहे थे।

क्रमशः

With best compliments

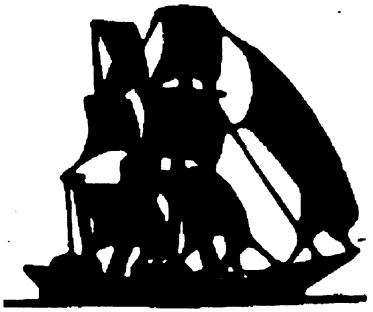

arcadia shipping limited

222, Tulsiani Chambers, Nariman Point,
Mumbai-400 021
Tel : +91 22 6658 0300 / Fax : +91 22 2287 2664
Email : arcadiashipping@vsnl.com

Ship Owners, Ship Managers

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1.	Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:		
	Vol - 1 (satakas 1- 2)	Price : Rs.	150.00
	Vol - 2 (satakas 3- 6)		150.00
	Vol - 3 (satakas 7- 8)		150.00
	Vol - 4 (satakas 9- 11) ISBN: 978-81-922334-0-6		150.00
2.	James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates (It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)	Price : Rs.	100.00
3.	P. C. Samsukha - Essence of Jainism ISBN: 978-81-922334-4-4	Price : Rs.	15.00
4.	Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord, ISBN: 978-81-922334-7-5	Price : Rs.	15.00
5.	Verses from Cidananda Translated by Ganesh Lalwani	Price : Rs.	15.00
6.	Ganesh Lalwani - Jainthology ISBN: 978-81-922334-2-0	Price : Rs.	100.00
7.	Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains ISBN: 978-81-922334-3-7	Price : Rs.	100.00
8.	Prof. S. R. Banerjee Jainism in Different States of India ISBN: 978-81-922334-5-1	Price : Rs.	100.00
9.	Prof. S. R. Banerjee Introducing Jainism ISBN: 978-81-922334-6-8	Price : Rs.	30.00
10.	Smt. Lata Bothra- The Harmony Within	Price : Rs.	100.00
11.	Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira	Price : Rs.	100.00
12.	Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity	Price : Rs.	100.00

Hindi :

1.	Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) ISBN: 978-81-922334-1-3 Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	20.00
3.	Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	30.00
4.	Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	50.00
5.	Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira	Price : Rs.	60.00

6.	Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat,	Price : Rs.	45.00
7.	Ganesh Lalwani -- Panchdasi.	Price : Rs.	100.00
8.	Rajkumari Begani-Yado ke Aine me.	Price : Rs.	30.00
9.	Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra	Price : Rs.	15.00
10.	Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm	Price : Rs.	24.00
11.	Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika	Price : Rs.	20.00
12.	Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad	Price : Rs.	250.00
	ISBN : 978-81-922334-8-2		
13.	Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra	Price : Rs.	50.00
14.	Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan	Price : Rs.	50.00
15.	Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal		
	ISBN: 978-81-922334-9-9	Price : Rs.	50.00
16.	Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh	Price : Rs.	

Bengali :

1.	Ganesh Lalwani-Atimukta,	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita	Price : Rs.	20.00
3.	Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma.	Price : Rs.	15.00
4.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma	Price : Rs.	20.00
5.	Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra	Price : Rs.	25.00
6.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita	Price : Rs.	20.00
7.	Sri Yudhishthir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti	Price : Rs.	20.00

Some Other Publications :

1.	Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir	Price : Rs.	15.00
2.	Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan	Price : Rs.	10.00
3.	Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma	Price : Rs.	100.00
4.	Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali)	Price : Rs.	
5.	Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali)	Price : Rs.	50.00
6.	K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira	Price : Rs.	25.00

ऐसा विश्वास दिल में जमाते चलो
सिद्ध, अरिहन्त को मन में रमाते चलो,
वक्त आयेगा ऐसा कभी न कभी
सिद्धि पायेंगे हम भी कभी न कभी।

KUSUM CHANACHUR

Founder : Late. Sikhar Chand Churoria

Our Quality Product of :

Anusandhan	Bhaonagari Ghantia
Kolkata Nasta	Jocker
Badsha Khan	Lajawab
Picnic	Papri Ghantia
Raja	Rim Jhim
Shubham	Tinku

MANUFACTURED BY

M/s. K. K. Food Product
Prop. Anil Kumar, Sunil Kumar Churoria
P. O. Azimganj, Dist: Murshidabad
Pin No.- 742122, West Bengal
Phone No.: 03483-253232,
Fax No.: 03483-253566

KOLKATA ADDRESS:

36, Maharshi Debendra Road, 3rd Floor Room No.- 308
Kolkata - 700 006, Phone No.: 2259-6990, 3293-2081
Fax No.: 033-2259-6989, (M) 9434060429, 9830423668

TITTHAYARA
Vol XXXVI No.04
25th July 2012

Registered
No. KOL.RMS / 070/2010-12
R.N.I. 30181/77

Creators of Prestigious Interiors
Established 1970

Creativity is a Modern Religion

Nahar

Architects . Interiors . Consultants

5B, Indian Mirror Street, Kolkata-700013
Phone No.-2227 5240/45, Fax :22276356
Email Id:info@nahardecor.com